



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519
IJSR 2016; 2(2): 01-02
© 2016 IJSR
www.anantaajournal.com
Received: 01-01-2016
Accepted: 02-02-2016

यदुनन्दन प्रसाद उपाध्याय
शोधार्थी, जीवाजी विश्वविद्यालय ग्वालियर
(म०प्र०)

21वीं सदी का भारत और आदिवासी चिंतन की रूपरेखा

यदुनन्दन प्रसाद उपाध्याय

आज जिस समय में साहित्य लिखा जा रहा है वह अद्भुत और विचित्र है। वह तमाम विडम्बनाओं, विषमताओं और संभावनाओं से भरा हुआ है। उसमें उत्थान भी है पतन भी है। बदलते समय के साथ वह सोच की नई जमीन और उद्भावनाएं तलास रहा है। एक तरफ से कह सकते हैं कि आज का साहित्य बहुत ऊर्जावान है। वह अनेक विषयों का अन्वेषण कर रहा है। उनेक समस्याओं और विमर्षों पर अपनी लेखनी कर रहा है। ऐसे में कुछ के नए चिंतन भी उदित हुए हैं। आदिवासी-चिंतन उसी का परिणाम है, जो साहित्य के बिस्तर पर कभी विश्राम नहीं कर सका। परंतु आज बदलते हुए परिप्रेक्ष्य में नवीन-चिंतन की आवश्यकता है। किस कारण आदिवासियों को साहित्य का अंग नहीं बनाया गया, इस पर तथा दलित एवं स्त्री विमर्ष से भी पदलित एक आदिवासी वर्ग है, इस पर अनेक आलोचक, कवि एवं कथाकर बेधड़क होकर अब अपनी कलम चलाने को उतारू हैं।

आदिवासियों पर साहित्य हर कोई नहीं लिख सकता। उन पर ठीक-ठिकाने का साहित्य वही लिख सकता है जो उनके बहुत करीब रहा हो और उन्हे गहराई से समझता हो। “आदिवासियों में हिन्दी के रचनाकार या आदिवासियों से संबंधित साहित्य ज्यादातर झारखण्ड में ही लिखा गया है और उसके बाद कुछ हद तक राजस्थान में। बंगला में महाश्वेता देवी ने 1970 के दशक में ‘जंगल के दावेदार’ उपन्यास लिखकर जितनी मशहूरी हासिल की उतनी और किसी लेखक को नहीं मिली। “१ आदिवासी संस्कृति मानवीय मूल्यों से ओत-प्रोत है। और मूल्य शाश्वत हैं। इनका निर्माण मानव के साथ-साथ हुआ है। यदि इनका अंत होगा तो फिर सभ्यता के साथ मानवता भी समाप्त हो जायेगी। 21वीं सदी का भारत अनेक मूल्यों से अपेक्षित है। जिसमें आदिवासी-संस्कृति और सभ्यता पर चिंतन-मनन प्राथमिक है। जहां तक स्त्री एवं दलित विमर्श का प्रश्न है तो इनके मूल में एक ही चिंतन दृष्टिगत होता है, कि उनके अस्तित्व को उनके मौलिक रूप में स्थापित करना। परंतु आदिवासी चिंतन इससे भिन्न है। क्योंकि उनके क्षेत्रों की आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति देश के अन्य क्षेत्रों से भिन्न है। यहाँ भौगोलिक संसाधन तो पर्याप्त है किन्तु उनके दोहन की सुविधाएं आज भी पर्याप्त नहीं हैं। ऐसे में उन्हें भौगोलिक संसाधनों एवं समाज की मुख्य धारा के केन्द्र में ले जाना आदिवासी चिंतन की प्रथम रूपरेखा होनी चाहिए।

प्रकृति पर पहला अधिकार इन्हीं का है। ये ही इस प्रकृति के सच्चे और पक्के हिमायती हैं। ये पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, जीव-जंतु, पर्वत-पहाड़, नदियां-झरने सभी उन्हीं के सहचर हैं। उन्हीं की संस्कृति और सभ्यता के अंग हैं। यदि इनके जीवन में झँक कर देखा जाये तो हमें अनेक रोचक जानकारियां मिलेंगी। हिरणों में वे मृत बुजुर्गों की आत्मा का वास मानते हैं, और उन्हे सुरक्षित रखते हैं। “हिरणों की घटती हुई संख्या पुरखों की नाराजगी का प्रतिफल है। तीतर व बटेर पर्याप्त मात्रा में हैं जिनका शिकार ये लोग बेधड़क होकर शौक से करते हैं। हरा कबूतर (हरियल) अत्यल्प हैं, जिसमें ये लोग अपने होने वाले शिशुओं की आत्मा का वास मानते हैं। “२ इस तरह की अनेक मिथकीय मान्यताएं उनमें प्रचलित हैं।

21वीं सदी के परिप्रेक्ष्य में भौतिक दृष्टिकोण से अति पिछड़ी दुर्दशा में आदिवासी समाज ही है। जहाँ तक न तो सरकार की ही योजनाएं एवं सुविधाएं पहुंच पा रही हैं और न ही साहित्य के मर्मजों की दिव्य दृष्टि। ऐसे में उनकी दीन-हीन स्थिति को आलोक में लाना अति सराहनीय कार्य होगा। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि आज आदिवासी, जो कि संभवतः भारत के मूल निवासियों के वंशज हैं, अब देश की कुल आबादी के 8 प्रतिशत बचे हैं। वे एक तरफ गरीबी, निरक्षरता, बेरोजगारी और भूमिहीनता से ग्रस्त हैं। वहीं दूसरी तरफ भारत की बहुसंख्यक जनसंख्या जो कि विभिन्न अप्रवासी जातियों के वंशज है, उनके साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार करती हैं।

समग्रता में देखना चाहें तो आदिवासी अस्मिता के विविध पहलुओं को किसी एक उपन्यास या कहानी की कथा-परिधि में खोजना उस कृति के साथ ज्यादाती होगी। “इतिहास, परम्परा संस्कृति, संघर्ष, आधुनिकीकरण, नगरीकरण औद्योगिकीकरण और विस्थापन के देश और उनकी परिणतियों की टोह लेनी हो तो डूब, पार, काला-पादरी, धार, संघर्ष,

Correspondence
यदुनन्दन प्रसाद उपाध्याय
शोधार्थी, जीवाजी विश्वविद्यालय ग्वालियर
(म०प्र०)

समर शेष है, जहाँ खिले हैं रक्तपलाष और ग्लोबल गाँव का देवता जैसे तमाम उपन्यासों के बीच से गुजरना होगा। “३ जो निश्चित ही 21वीं सदी के भारत में आदिवासियों की दयनीय एवं हृदय-स्पर्शी स्थितियों को उजागर करके रख देते हैं। हालांकि अभी आदिवासी-वर्ग में वह जागरूकता नहीं आ पाई है कि वे ललकार कर अपने हक के लिए लड़ सकें। उन्होंने जनजातिकरण के रास्ते पर चलते हुए अपना बहुत कुछ खोया है। उसकी भरपाई तो संभव नहीं पर अभी भी बहुत कुछ शेष है जिसे बचा लेना भी कम महत्व का नहीं होगा। जहाँ एक ओर वर्तमान जगत् में शहरी और नगरीय लोग अपनी अस्मिता और संस्कृति गंगा में विसर्जित कर चुके हैं, वही दूसरी ओर आदिवासियों के पास आज भी मानवीय समीपता के सारे प्राकृतिक तत्त्व जस के तस सुरक्षित तथा आरक्षित हैं। स्त्री, पुरुष संबंधों की बात हो, भाई चारे, सहभागिता आदि की बात हो, प्रकृति की मादकता में डूब जाने या जंगल के मनोरमों में आत्म को विलीन कर देने की बात हो, आज भी ये सारे मानवीय गुण आदिवासी समूहों में देखे जा सकते हैं। भले ही वे गरीब हैं, बेरोजगार हैं, असहाय हैं, असभ्य हैं, बदसूरत और भद्दे हैं परंतु फिर भी नगरीय लोगों की तरह बेईमान, बेशर्म, बेदर्द, भीरू, धोखेबाज और निष्क्रिय नहीं हैं। वे तो इतने सहज और सरल हैं कि कोई भी उन्हें मूर्ख बना देता है। पूंजीपतियों से लेकर सरकार के गुर्कों तक बड़ी बेशर्मा से उनका शोषण किया जा रहा है। झारखण्ड की स्वर्णरेखा नदी के आस-पास के जंगलों में रहने वाले आदिवासी तो रोटी और कपड़ों की खातिर अहर्निष स्वर्णरेखा के रेत में से स्वर्णकणों को छानते-फिरते हैं। कितना सस्ता सौदा है? उन बिचारों को तो ये भी नहीं पता कि सोना बड़ा है कि रोटी! पर इतना जरूर ज्ञान है कि रोटी उनकी प्राणसंचारिका है सोना नहीं। वे निष्छल हैं, उद्यमी हैं, साहसी हैं, प्रेमी हैं, अगर कुछ नहीं हैं, तो वह है केवल 21वीं सदी का अतिआधुनिक मानव। जो भ्रष्टाचार, बेईमानी और कायरता का पुतला है।

आज की सदी गतिशील है। नवीन प्रयोग और अनुसंधान इसकी जड़ों में समाहित हैं। समाज का प्रत्येक वर्ग इस सदी की दौड़ में जीतने की चेष्टा कर रहा है। परंतु आदिवासियों को समाज के किसी भी वर्ग ने परिस्पर्धा की इस रेस में शामिल नहीं किया। शायद इसलिए कि वे जंगलों और दुर्गम इलाकों में रहते हैं। साहित्यकार और आलोचक भी मानव से भी लघुमानव एवं सूक्ष्ममानव की प्रतिष्ठा करते रहे, इस वर्ग की कथा लिखने में उनकी कलम की स्याही भी सूख गई। यदि साहित्य, समाज और सरकार का यही कर्तव्य है तो यह उनके अपने स्वार्थों को पूरा करने तक ही सीमित है। अतः आज एक नए और अलग युग की आवश्यकता है, जो जंगल में रहने वाली इन अस्पृश्य और अदृश्य जनजातियों को प्रकाश में लाएँ, उन पर अनुसंधान करें, उन पर साहित्य लिखें, उनसे सम्पर्क एवं भाई-चारा स्थापित करें। क्योंकि उनके भी दो हाथ, दो पैर, दो आंखें हैं। उनका भी समाज और संस्कृति है, जो हमसे कहीं बेहतर और मर्मस्पर्शी है। 21वीं सदी का मानव और समाज अपने संस्कारों को तो खोखला कर चुका है, ऐसे में आदिवासियों की जीवन-शैली और संस्कृति से सीख लेना और उन पर चिंतन-मनन करना उनके लिए संजीवनी-बूटी का कार्य करेगी।

संदर्भ

1. सभी सत्ताधारी आदिवासियों के आदिवासीपन से डरते हैं - (प्रो0 वीरभारत तलवार के साथ केदार प्रसाद मीणा की बात-चीत), कथाक्रम (अक्टूबर-दिसम्बर, 2011)
2. किसी सम्पत्ति एवं आदिवासी परम्परा- हरिराम मीणा, पृष्ठ क्र0.71
3. आदिवासी अस्मिता और हिन्दी उपन्यास- विद्याभूषण, पृष्ठ क्र0.77